अनादि गुरुमंत्र

गायत्री

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

अनादि गुरुमंत्र गायत्री

लेखक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. : ०९९२७०८६२८९, ०९९२७०८६२८७

फैक्स : २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१३ मूल्य : ६.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि
मथुरा (उ. प्र.)

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

पुनरावृत्ति सन् २०१३

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

अनादि गुरुमंत्र गायत्री

मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा जहाँ कितनी ही विशेषताएँ हैं वहाँ कितनी ही कमियाँ भी हैं। एक सबसे बड़ी कमी यह है कि पशु-पक्षियों के बच्चे बिना किसी के सिखाए अपनी जीवनचर्या की बातें अपने आप सीख जाते हैं पर मनुष्य का बालक ऐसा नहीं करता है। यदि उसका शिक्षण दूसरों के द्वारा न हो तो वह उन विशेषताओं को प्राप्त नहीं कर सकता जो मनुष्य में होती हैं। धर्म, संस्कृति, रिवाज, भाषा, वेशभूषा, शिष्टाचार, आहार, विहार आदि बातें अपने निकटवर्ती लोगों से सीखता है। यदि कोई बालक जन्म से ही अकेला रखा जाए तो वह सब बातों से वंचित रह जाएगा जो मनुष्य में होती हैं।

पशु-पक्षियों के बच्चों में यह बात नहीं है। बया पक्षी का छोटा बच्चा पकड़ लिया जाए और वह माँ-बाप से कुछ न सीखे तो भी बड़ा होकर अपने लिए वैसा ही सुंदर घोंसला बना लेगा जैसा अन्य बया पक्षी बनाते हैं। पर अकेला रहने वाला मनुष्य का बालक भाषा, कृषि, शिल्प, संस्कृति, धर्म, शिष्टाचार, लोक-व्यवहार, श्रम, उत्पादन आदि सभी बातों से वंचित रह जाएगा। पशुओं के बालक जन्मते ही चलने-फिरने लगते हैं और माता का पयपान करने लगते हैं पर मनुष्य का बालक बहुत दिन में कुछ समझ पाता है। आरंभ में तो वह करवट बदलना, दूध का स्थान तलाश करना तक नहीं जानता, अपनी माता तक को नहीं पहचानता। इन बातों में पशुओं के बच्चे अधिक चतुर होते हैं।

मनुष्य की यह कमजोरी कि वह दूसरों से ही सब कुछ सीखता है, उसके उच्च विकास में बाधक होती है। कारण कि साधारण वातावरण में भले तत्त्वों की अपेक्षा बुरे तत्त्व अधिक होते हैं। उन बुरे

तत्त्वों में ऐसा आकर्षण होता है कि कच्चे दिमाग उनकी ओर बड़ी आसानी से खिंच जाते हैं। फलस्वरूप वे बुराइयाँ अधिक सीख लेने के कारण आगे चलकर बुरे मनुष्य साबित होते हैं। छोटी आयु में यह पता नहीं चलता कि बालक किन संस्कारों को अपनी मनोभूमि में जमा रहा है, बड़ा होने पर जब वे संस्कार एवं स्वभाव प्रकट होते हैं, तब उन्हें हटाना कठिन हो जाता है क्योंकि दीर्घकाल तक वे संस्कार बालक के मन में जमे रहने एवं पकते रहने के कारण ऐसे सुदृढ़ हो जाते हैं कि उनका हटाना कठिन हो जाता है।

ऋषियों ने इस भारी कठिनाई को देखकर एक अत्यंत ही सुंदर और महत्त्वपूर्ण उपाय यह निश्चित किया कि प्रत्येक बालक पर माँ-बाप के अतिरिक्त किसी ऐसे व्यक्ति का भी नियंत्रण रहना चाहिए जो मनोविज्ञान की सूक्ष्मताओं को समझता हो। दूरदर्शी, तत्त्वज्ञानी और पारदर्शी होने के कारण बालक के मन में जमते रहने वाले संस्कार-बीजों को अपनी पैनी दृष्टि से तत्काल देख लेने और उनमें आवश्यक सुधार करने की योग्यता रखता हो। ऐसे मानसिक नियंत्रणकर्त्ता की उनने प्रत्येक बालक के लिए अनिवार्य आवश्यकता घोषित की।

शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य के तीन प्रत्यक्ष देव हैं—(१) माता, (२) पिता, (३) गुरु। इन्हें ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उपमा दी है। माता जन्म देती है इसलिए ब्रह्मा है, पिता पालन करता है इसलिए विष्णु है, गुरु कुसंस्कारों का संहार करता है इसलिए शंकर है।

बिना माता का, बिना पिता का, बिना गुरु का भी कोई मनुष्य हो सकता है, यह बात प्राचीनकाल में अविश्वस्त समझी जाती थी। कारण कि भारतीय समाज के सुसंबद्ध विकास के लिए ऋषियों की यह अनिवार्य व्यवस्था थी कि प्रत्येक आर्य का गुरु होना चाहिए, जिससे वह महान पुरुष बन सके।

गुरुकुल प्रणाली का उस समय रिवाज था। पढ़ने की आयु के होते ही बालक ऋषियों के आश्रम में भेज दिए जाते थे। राजा-महाराजाओं तक के बालक गुरुकुल का कठिन जीवन बिताने जाते थे ताकि वे कुशल नियंत्रण में रहकर सुसंस्कृत बन सकें और आगे चलकर मनुष्यता के महान गौरव की रक्षा करने वाले महापुरुष सिद्ध हो सकें। 'मैं अमुक आचार्य का शिष्य हूँ।' यह बात बड़े गौरव के साथ कही जाती है।

मनुष्य का मस्तिष्क एक बगीचे के समान है। इसमें नाना प्रकार के मनोभाव, विचार, संकल्प, इच्छा, वासना, योजनारूपी वृक्ष उगते हैं। उनमें से कितने ही आवश्यक और कितने ही अनावश्यक होते हैं। बगीचे में कितने ही पौधे झाड़-झंखाड़ के अपने आप उग आते हैं। वे बढ़ें तो बगीचे को नष्ट कर सकते हैं। इसलिए माली उन्हें उखाड़ देता है और दूर-दूर से लाकर अच्छे-अच्छे बीज उनमें बोता है। गुरु अपने शिष्य के मस्तिष्क रूपी बगीचे का माली होता है। वह अपने क्षेत्र में से जंगली झाड़-झंखाड़ जैसे अनावश्यक संकल्पों, संस्कारों, आकर्षणों और प्रभावों को उखाड़ता रहता है और अपनी बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता एवं चतुरता के साथ ऐसे संस्कार-बीज जमाता रहता है जो उस मस्तिष्करूपी बगीचे को बहुमूल्य बनाएँ।

कोई व्यक्ति यह सोचे कि "मैं स्वयं ही अपना आत्मनिर्माण करूँगा, अपने आप अपने को सुसंस्कृत बनाऊँगा, मुझे किसी गुरु की आवश्यकता नहीं" तो ऐसा किया जा सकता है। आत्मा में अनंत शक्ति है। अपना कल्याण करने की शक्ति उसमें मौजूद है। परंतु ऐसे प्रयत्नों में कोई मनस्वी व्यक्ति ही सफल होते हैं। सर्वसाधारण के लिए यह बात बहुत कष्टसाध्य है। कई सुयोग्य व्यक्ति भी आत्मनिरीक्षण में सफल नहीं होते। हम दूसरों की जैसी अच्छी आलोचना कर सकते हैं, दूसरों को जैसी नेक सलाह दे सकते हैं वैसी अपने लिए नहीं कर पाते। कारण यही है कि अपने संबंध में आप निर्णय करना कठिन होता है।

समुचित बौद्धिक विकास की सुव्यवस्था के लिए 'गुरु' की नियुक्ति को भारतीय धर्म में आवश्यक माना गया है। इससे मनुष्य की विचारधारा, स्वभाव, संस्कार, गुण, प्रकृति, आदतें, इच्छाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ, कार्य-पद्धति आदि का प्रवाह उत्तम दिशा में होता है और मनुष्य अपने आप में संतुष्ट, प्रसन्न, पवित्र और परिश्रमी रहकर दूसरों को अपनी उदारता तथा सद्व्यवहार से सुख पहुँचा सकता है। इस प्रकार के सुसंस्कृत मनुष्य जिस समाज में, जिस देश में अधिक होंगे, वहाँ निश्चयपूर्वक सुख-शांति की, सुव्यवस्था की, पारस्परिक सहयोग की, प्रेम की, साथ ही सहयोग की बहुलता रहेगी। हमारा पूर्व इतिहास साक्षी है कि सुसंस्कारित मस्तिष्क के भारतीय महापुरुषों ने कैसे महान कार्य किए थे और इस भूमि पर किस प्रकार स्वर्ग को अवतरित कर दिया था?

आज यह प्रथा टूट चली है। गुरु कहलाने के अधिकारी व्यक्तियों का मिलना मुश्किल है। जिसमें गुरु बनने की योग्यता है, वे अपने व्यक्तिगत, आत्मिक या भौतिक लाभों के संपादन में लगे हुए हैं। लोक-सेवा एवं राष्ट्र-निर्माण की रचनात्मक प्रवृत्ति की ओर, सुसंस्कृत बनाने का उत्तरदायित्व सिर पर लेने की ओर उनका ध्यान नहीं है। वे इससे स्वल्प लाभ, अधिक झंझट और भारी बोझ अनुभव करते हैं। इसकी अपेक्षा वे दूसरे सरल तरीकों से अधिक धन और यश कमा लेने के अनेक मार्ग जब सामने देखते हैं तो 'गुरु' का गहन उत्तरदायित्व ओढ़ने से कन्नी काट जाते हैं।

दूसरी ओर, ऐसे अयोग्य व्यक्ति जिनका चरित्र, ज्ञान, अनुभव, विवेक, तप आदि कुछ भी नहीं है, जिनमें दूसरों को संस्कृत करने की क्षमता होना तो दूर, जो अपने आपको सुसंस्कृत नहीं बना सके, जो अपना निर्माण नहीं कर सके, ऐसे लोग पैर पुजाने और दक्षिणा लेने के लोभ में कान फूकने लगे, खुशामद, दीनता और भिक्षा-वृत्ति का आश्रय

लेकर शिष्य तलाश करने लगे तो गुरुत्व की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई। जिस काम को कुपात्र लोग हाथ में ले लेते हैं, वह अच्छा काम भी बदनाम हो जाता है। ऋषियों के हाथ में जब तक 'गुरुत्व' था तब तक उस पद की प्रतिष्ठा रही। आज जब कि कुपात्र, भिखारी और क्षुद्र लोग गुरु बनने का दुस्साहस करने लगे तो वह महान पद ही बदनाम हो गया। आज 'गुरु' या 'गुरु घंटाल' शब्द किसी पुराने पापी या धूर्तराज के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

आज के दूषित वातावरण ने सभी दिशाओं में गड़बड़ी पैदा कर दी है। असली सोना कम है पर नकली सोना बेहिसाब तैयार हो रहा है। असली घी मिलना मुश्किल है पर वेजीटेबिल घी से दुकानें पटी पड़ी हैं। असली मोती, असली जवाहरात कम हैं पर नकली मोती और इमीटेशन रत्न ढेरों बिकते हैं। इतना होते हुए भी असली चीजों का महत्त्व कम नहीं हुआ है। लोग घासलेट घी को खूब खरीदते बेचते हैं, पर इससे असली घी की उपयोगिता घट नहीं जाती। असंख्य गड़बड़ियाँ होते रहने पर भी असली घी के गुण वही रहेंगे और उसके लाभों में कोई कमी न होगी। मिलावट, नकलीपन, धोखाधड़ी के हजार पर्वत मिलकर भी वास्तविकता का, वस्तुस्थिति का महत्त्व राई भर भी नहीं घटा सकते।

'व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का निर्माण' एक सचाई है, जो आज की विषम स्थिति में तो क्या, किसी भी बुरी से बुरी स्थिति में भी गलत सिद्ध नहीं हो सकती। रोटी बनानी होगी तो आटे की, पानी की, आग की जरूरत पड़ेगी। चाहे कैसा भी भला या बुरा समय हो परंतु इस अनिवार्य आवश्यकता में कोई अंतर नहीं आ सकता। अच्छे मनुष्य, सच्चे मनुष्य, प्रतिष्ठित मनुष्य, सुखी मनुष्य की रचना के लिए यह आवश्यक है कि अच्छे, सुयोग्य और दूरदर्शी मनुष्यों द्वारा हमारे मस्तिष्कों का नियंत्रण, संशोधन, निर्माण और विकास किया जाए।

मनुष्य कोरे कागज के समान है। वह जैसा प्रभाव ग्रहण करेगा, जैसा सीखेगा, वैसा करेगा। यदि बुराई से बचना है, तो अच्छाई से संबंध जोड़ना आवश्यक है। मनुष्य का मन खाली नहीं रह सकता, उसे अच्छाई का प्रकाश न मिलेगा तो निश्चय ही उसे बुराई के अंधकार में रहना होगा।

शिक्षा और विद्या का महत्त्व

मनुष्य को सुयोग्य बनाने के लिए उसके मस्तिष्क को दो प्रकार से उन्नत किया जाता है—(१) शिक्षा द्वारा (२) विद्या द्वारा। शिक्षा के अंतर्गत वे सब बातें आती हैं, जो स्कूलों में, कॉलेजों में, ट्रेनिंग कैंपों में, हाट-बाजार में, घर में, दुकान में, समाज में सिखाई जाती हैं। विद्या द्वारा मनोभूमि का निर्माण होता है। मनुष्य की इच्छा, आकांक्षा, भावना, श्रद्धा, मान्यता, रुचि एवं आदतों को अच्छे ढाँचे में ढालना विद्या का काम है। चौरासी लाख योनियों में घूमते हुए आने के कारण पिछले पाशविक संस्कारों से मन भरा रहता है, उनका संशोधन करना विद्या का काम है।

शिक्षक शिक्षा देता है। शिक्षा का अर्थ है—सांसारिक ज्ञान। विद्या का अर्थ है—मनोभूमि की सुव्यवस्था। शिक्षा आवश्यक है, पर विद्या उससे भी अधिक आवश्यक है। शिक्षा बढ़नी चाहिए, पर विद्या का विस्तार उससे भी अधिक होना चाहिए अन्यथा दूषित मनोभूमि रहते हुए यदि सांसारिक समर्थताएँ बढ़ी तो उसका परिणाम भयंकर होगा। धन की, चतुरता की, शिक्षा की, विज्ञान की, इन दिनों बहुत उन्नति हुई है, पर यह स्पष्ट है कि उन्नति के साथ-साथ हम सर्वनाश की ओर ही बढ़ रहे हैं। कम साधन होते हुए भी, कम शिक्षित होते हुए भी, विद्यावान मनुष्य सुखी रह सकता है, परंतु केवल बौद्धिक या सांसारिक शक्तियाँ होने पर दूषित मनोभूमि का मनुष्य अपने लिए तथा

दूसरों के लिए केवल विपत्ति, चिंता, कठिनाई, क्लेश एवं बुराई ही उत्पन्न कर सकता है। इसलिए विद्या पर भी उतना ही बल्कि उससे भी अधिक जोर दिया जाना चाहिए जितना कि शिक्षा पर दिया जाता है।

आज हम अपने बालकों को ग्रेजुएट बना देने के लिए ढेरों पैसा खरच करते हैं, पर उनकी आंतरिक भूमि को सुव्यवस्थित करने की की शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं करते। फलस्वरूप ऊँची शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भी वे बालक अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति, अपने समाज के प्रति कोई आदर्श व्यवहार नहीं कर पाते। किसी भी ओर उनकी प्रगति ऐसी नहीं होती जो प्रसन्नतादायक हो। शिक्षा के साथ उनमें जो अनेक दुर्गुण आ जाते हैं उन दुर्गुणों में ही उनकी योग्यता द्वारा होने वाली कमाई बरबाद होती रहती है।

गायत्री द्वारा द्विजत्व की प्राप्ति

भारतीय धर्म के अनुसार गुरु की आवश्यकता प्रत्येक भारतीय के लिए है। जैसे ईश्वर के प्रति, शास्त्रों के प्रति, भारतीय आचार के प्रति, ऋषियों और देवताओं के प्रति आस्था एवं आदर बुद्धि का होना, भारतीय धर्म के अनुयायी के लिए आवश्यक है, वैसे यह आवश्यक है कि वह 'निगुरा' न हो। उसे किसी सुयोग्य सत्पुरुष का ऐसा पथ-प्रदर्शन प्राप्त होना चाहिए जो उसके सर्वांगीण विकास में सहायक हो सके।

संभ्रांत भारतीय धर्मानुयायी को 'द्विज' कहते हैं। द्विज वह है जिसका दो बार जन्म हुआ है। एक बार माता-पिता के रज-वीर्य से सभी का जन्म होता है। इस तरह मनुष्य जन्म पा लेने से कोई मनुष्य प्रतिष्ठित आर्य नहीं बन सकता। केवल जन्म मात्र से ही मनुष्य का कोई गौरव नहीं, कितने ही मनुष्य ऐसे हैं जो पशुओं से भी गए-बीते होते हैं। स्वभावत: जन्मजात पशुता तो प्राय: सभी में होती है। इस

पशुता का मनोवैज्ञानिक परिष्कार किया जाता है, उस परिष्कार की पद्धति को 'द्विजत्व' या दूसरा जन्म कहते हैं।

शास्त्र में बताया गया है—"**जन्मनां जायते शूद्र संस्कारात् द्विज उच्यते**" अर्थात जन्म से सभी शूद्र उत्पन्न होते हैं। संस्कारों द्वारा, प्रभावों द्वारा, मनुष्य का दूसरा जन्म होता है। यह दूसरा जन्म माता गायत्री और पिता आचार्य द्वारा होता है। गायत्री के २४ अक्षरों में ऐसे सिद्धांत और आदर्श सन्निहित हैं जो मानव अंत:करण को उच्च स्तर पर विकसित करने के प्रधान आधार हैं। समस्त वेद-शास्त्र, पुराण, स्मृति, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण सूत्र आदि ग्रंथों में जो कुछ भी शिक्षा है, वह गायत्री के अक्षरों में सन्निहित शिक्षाओं की व्याख्या मात्र है। समस्त भारतीय धर्म, समस्त भारतीय आदर्श, समस्त भारतीय संस्कृति का सर्वस्व गायत्री के २४ अक्षरों में बीज रूप से मौजूद है। इसलिए द्विजत्व के लिए, दूसरे जन्म के लिए गायत्री को माता माना गया है।

कहा जाता है कि गायत्री का अधिकार केवल द्विजों को है। द्विजत्व का तात्पर्य है—गुरु द्वारा गायत्री को ग्रहण करना। जो लोग अश्रद्धालु हैं, आत्म-निर्माण से जी चुराते हैं, आदर्श जीवन बिताने से उदासीन हैं, जिनकी सन्मार्ग में प्रवृत्ति नहीं, ऐसे लोग 'शूद्र' कहे जाते हैं। जो दूसरे जन्म का, आदर्श जीवन का, मनुष्यता की महानता का, सन्मार्ग का अवलंबन नहीं करना चाहते, ऐसे लोगों का जन्म पाशविक ही कहा जाएगा। ऐसे लोग गायत्री में क्या रुचि लेंगे? जिसकी जिस मार्ग में श्रद्धा न होगी, वह उसमें क्या सफलता प्राप्त करेगा? इसलिए ठीक ही कहा गया है कि शूद्रों को गायत्री का अधिकार नहीं। इस महाविद्या का अधिकारी वही है, जो आत्मिक कायाकल्प का लक्ष्य रखता है, जिसे पाशविक जीवन की अपेक्षा उच्च जीवन पर आस्था है, जो द्विज बनकर सैद्धांतिक जन्म लेकर सत्पुरुष बनना चाहता है।

उत्कीलन और शाप मोचन

शास्त्रों में बताया गया है कि गायत्री मंत्र कीलित है, उसका जब तक उत्कीलन न हो जाए, तब तक वह फलदायक नहीं होता। यह भी कहा गया है कि गायत्री को शाप लगा हुआ है। उस शाप का जब तक अभिमोचन न कर लिया जाए, तब तक उससे कुछ लाभ नहीं होता। कीलित होने और शाप लगने के प्रतिबंध क्या हैं और उत्कीलन एवं अभिमोचन क्या है ? यह विचारणीय बातें हैं।

यह कहा जा सकता है कि 'औषधि विद्या कीलित है।' क्योंकि अगर कोई ऐसा व्यक्ति जो शरीरशास्त्र, निदान, निघंट, चिकित्सा विज्ञान की बारीकियों को नहीं समझता है, अपनी अधूरी जानकारी के आधार पर अपनी चिकित्सा आरंभ कर दे तो उससे कुछ भी लाभ न होगा, उलटी हानि हो सकती है। यदि औषधि से कोई लाभ लेना है तो किसी अनुभवी वैद्य की सलाह लेना आवश्यक है। आयुर्वेद ग्रंथों में बहुत कुछ लिखा हुआ है, उन्हें पढ़कर बहुत सी बातें जानी जा सकती हैं, फिर भी वैद्य की आवश्यकता तो है ही। वैद्य के बिना हजारों रुपए के चिकित्सा ग्रंथ और लाखों रुपयों का औषधालय भी रोगी को कुछ लाभ नहीं पहुँचा सकता। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि 'औषधि विद्या कीलित है।' गायत्री महाविद्या के बारे में भी यही बात है। साधक की मनोभूमि के आधार पर साधना-विधान के नियमोपनियमों में, आदर्शों में, ध्यान में, अनेक हेर-फेर करने होते हैं। सबकी साधना एक सी नहीं हो सकती, ऐसी दशा में उस व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन आवश्यक है, जो इस विज्ञान का ज्ञाता एवं अनुभवी हो। जब तक ऐसा निर्देशक न मिले, तब तक औषधि विद्या की तरह गायत्री विद्या भी साधक के लिए कीलित ही रहेगी। उपयुक्त निर्देशक का मिल जाना ही उत्कीलन है। ग्रंथों में बताया गया है कि गुरु

द्वारा ग्रहण कराई गई गायत्री ही उत्कीलित होती है। वही सफल होती है।

स्कंद पुराण में वर्णन है कि एक बार वसिष्ठ, विश्वामित्र और ब्रह्मा ने क्रुद्ध होकर गायत्री को शाप दिया कि 'उसकी साधना निष्फल होगी।' इतनी बड़ी शक्ति के निष्फल होने से हाहाकार मच गया। तब देवताओं ने प्रार्थना की कि इन शापों का विमोचन होना चाहिए। अंत में ऐसा मार्ग निकाला गया कि जो शाप मोचन की विधि को पूरा करके गायत्री की साधना करेगा, उसका प्रयत्न तो सफल होगा और शेष लोगों का श्रम निरर्थक जाएगा। इस कथा में एक भारी रहस्य छिपा हुआ है, जिसे न जानने वाले केवल '**शाप मुक्तो भव**' वाले मंत्रों को पढ़ लेने मात्र से यह मान लेते हैं कि हमारी साधना शाप-मुक्त हो गई।

विश्वामित्र का अर्थ है—संसार का मित्र, लोकसेवी, परोपकारी। वसिष्ठ का अर्थ है—विशेष रूप से श्रेष्ठ। ब्रह्मा का अर्थ है—ब्रह्म-परायण। इन तीन गुणों वाले पथ-प्रदर्शक के आदेशानुसार होने वाले आध्यात्मिक प्रयत्न ही सफल एवं कल्याणकारी होते हैं।

गायत्री उच्च मानव-जीवन की जन्मदात्री, आधारशिला एवं बीज शक्ति है। भारतीय संस्कृति रूपी ज्ञानगंगा की उद्गम भूमि गंगोत्री यह गायत्री ही है, इसलिए इसे द्विजों की माता कहा गया है। माता के पेट में रहकर मनुष्यदेही का जन्म होता है, गायत्री माता के पेट में रहकर मनुष्य का आध्यात्मिक, सैद्धांतिक, दिव्य विशेषताओं वाला दूसरा जन्म होता है। परंतु यह माता सर्वसंपन्न होते हुए भी पिता के अभाव में अपूर्ण है। द्विजत्व का दूसरा शरीर माता और पिता दोनों के ही तत्त्व बिंदुओं से निर्मित होता है। गायत्री माता की अदृश्य सत्ता को, गुरु द्वारा ही ठीक प्रकार से शिष्य की मनोभूमि में आरोपित किया जाता है। इसीलिए जब द्विजत्व का संस्कार होता है, तो इस दूसरे आध्यात्मिक जन्म में गायत्री को माता और आचार्य को पिता घोषित किया जाता है।

उच्च आदर्शों की शिक्षा, न तो अपने आप प्राप्त हो जाती है, न केवल आधार ग्रंथों से ही, न चरित्र के अयोग्य व्यक्ति ही उन उच्च आदर्शों की ओर दूसरों को आकर्षित कर सकते हैं। बढ़िया धनुषबाण पास होते हुए भी कोई व्यक्ति शब्दबेधी बाण चलाने वाला नहीं बन सकता और न अनाड़ी शिक्षक द्वारा बाण विद्या में पारंगत बना जा सकता है। अच्छा शिक्षक और अच्छा धनुषबाण दोनों मिलकर ही सफल परिणाम उपस्थित करते हैं। गायत्री के कीलित एवं शापित होने का और उसका उत्कीलन एवं शाप विमोचन करने का यही रहस्य है।

आत्मकल्याण की तीन कक्षाएँ

आध्यात्मिक साधना क्षेत्र तीन भागों में बँटा हुआ है। तीन व्याहृतियों में उनका स्पष्टीकरण कर दिया है। (१) भूः (२) भुवः (३) स्वः, ये तीन आत्मिक भूमिकाएँ मानी गई हैं। **भूः** का अर्थ है—स्थूल जीवन, शारीरिक एवं सांसारिक जीवन। **भुवः** का अर्थ है—अंतःकरण चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का कार्यक्षेत्र। **स्वः** का अर्थ है—विशुद्ध आत्मिक सत्ता। मनुष्य की आंतरिक स्थिति इन तीन क्षेत्रों में ही होती है।

'**भूः**' का संबंध अन्नमयकोश से है। '**भुवः**' प्राणमय और मनोमय कोश से आच्छादित है। '**स्वः**' का प्रभाव क्षेत्र विज्ञानमयकोश और आनंदमयकोश है। शरीर से संबंध रखने वाली, जीविका-उपार्जन, स्वास्थ्य, लोक-व्यवहार, नीति, शिल्पकला, स्कूली शिक्षा, व्यापार, सामाजिक व राजनीतिक ज्ञान, नागरिक कर्त्तव्य आदि बातें **भूः** क्षेत्र में आती हैं। ज्ञान, विवेक, दूरदर्शिता, धर्म, दर्शन, मनोबल, प्राण शक्ति, तांत्रिक प्रयोग, योग साधन आदि बातें **भुवः** क्षेत्र की हैं। आत्म-साक्षात्कार, ईश्वरपरायणता, ब्राह्मी स्थिति, परमहंस गति, समाधि, तुरीयावस्था, परमानंद, मुक्ति का क्षेत्र '**स्वः**' के अंतर्गत है। आध्यात्मिक क्षेत्र के ये

तीन लोक हैं। पृथ्वी, पाताल, स्वर्ग की भाँति ही हमारे भीतर भूः भुवः स्वः तीन लोक हैं।

प्रथम भूमिका 'मंत्र दीक्षा'—जीवन का प्रथम चरण 'भूः' है। व्यक्तिगत तथा सामाजिक व्यवहार में जो अनेक गुत्थियाँ, उलझनें, कठिनाइयाँ आती हैं, उन सबका सुलझाव इन अक्षरों में दी हुई शिक्षा से होता है। सांसारिक जीवन का कोई भी कठिन प्रश्न ऐसा नहीं है, जिसका उत्तर और उपाय इन अक्षरों में न हो। इस रहस्यमय व्यावहारिक ज्ञान की उपयुक्त व्याख्या करने के लिए जिस गुरु की आवश्यकता होती है उसे 'आचार्य' कहते हैं। आचार्य 'मंत्र दीक्षा' देते हैं। मंत्र का अर्थ है—विचार। तर्क, प्रमाण, अवसर, स्थिति पर विचार करते हुए आचार्य अपने शिष्य को समय-समय पर ऐसे सुझाव, सलाह, उपदेश, गायत्री मंत्र की शिक्षाओं के आधार पर देते हैं जिससे उसकी विभिन्न समस्याओं का समाधान होता चले और उसकी उन्नति का पथ प्रशस्त होता चले। यह प्रथम भूमिका है। इसे भूः क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्र के शिष्य को आचार्य द्वारा 'मंत्र दीक्षा' दी जाती है।

मंत्र दीक्षा लेते समय शिष्य प्रतिज्ञा करता है—"मैं गुरु का अनुशासनपूर्ण श्रद्धा के साथ मानूँगा। समय-समय पर उनकी सलाह से अपनी जीवन-नीति निर्धारित करूँगा, अपनी सब भूलें निष्कपट रूप से उन पर प्रकट कर दिया करूँगा।" आचार्य शिष्य को मंत्र का अर्थ समझाता है और माता गायत्री को यज्ञोपवीत रूप से देता है। शिष्य देव भाव से आचार्य का पूजन करता है और गुरु पूजा के लिए उन्हें वस्त्र, आभूषण, पात्र, भोजन, दक्षिणा आदि की सामर्थ्यानुसार भेंट चढ़ाता है। रोली, अक्षत, तिलक, कलावा, वरण आदि के द्वारा दोनों परस्पर एकदूसरे को बाँधते हैं। मंत्र दीक्षा, एक प्रकार से दो व्यक्तियों में आध्यात्मिक रिश्तेदारी की स्थापना है। इस दीक्षा के पश्चात पाप-पुण्य में एक प्रतिशत के भागीदार हो जाते हैं। शिष्य के सौ पापों में से एक

पाप का फल गुरु को भोगना पड़ता है और गुरु के पापों का इसी प्रकार शिष्य को भोगना पड़ता है। इसी प्रकार पुण्य में भी एकदूसरे के साझी होते हैं।

द्वितीय भूमिका 'अग्नि दीक्षा'—दूसरी **भुवः** भूमिका में पहुँचने पर दूसरी दीक्षा लेनी पड़ती है। इसे प्राण दीक्षा या अग्नि दीक्षा कहते हैं। प्राणमयकोश एवं मनोमयकोश के अंतर्गत छिपी हुई शक्तियों को जाग्रत करने की साधना का शिक्षण क्षेत्र यही है। साधना संग्राम के अस्त्र-शस्त्रों को पहनना, सँभालना और चलाना इसी भूमिका में सीखा जाता है। प्राण-शक्ति की न्यूनता का उपचार इसी क्षेत्र में होता है। साहस, उत्साह, परिश्रम, दृढ़ता, स्फूर्ति, आशा, धैर्य, लगन आदि वीरोचित गुणों की अभिवृद्धि इस दूसरी भूमिका में होती है। मनुष्य शरीर के अंतर्गत ऐसे अनेक चक्र-उपचक्र, भ्रमर, उपत्यय, सूत्र, प्रत्यावर्तन, बीज, मेरु आदि गुप्त संस्थान होते हैं, जो प्राणमय भूमिका की साधना से जाग्रत होते हैं। उस जागरण के फलस्वरूप साधक में ऐसी अनेक विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जैसी कि साधारण मनुष्यों में नहीं देखी जातीं।

'भुवः' भूमिका में ही मन, बुद्धि, चित्त, अंहकार के चतुष्टय का संशोधन, परिमार्जन एवं विकास होता है। यह सब कार्य 'मध्यमा' और 'पश्यंति' वाणी द्वारा किया जाता है। वैखरी वाणी द्वारा वचनों के माध्यम से प्रारंभिक साधक को 'भूः' क्षेत्र के मंत्र दीक्षित को सलाह, शिक्षा आदि दी जाती है। जब प्राण दीक्षा होती है तो गुरु अपना प्राण शिष्य के प्राण में घोल देता है, बीज रूप से अपना आत्म-बल साधक के अंतःकरण में स्थापित कर देता है। जैसे आग से आग जलाई जाती है, बिजली की धारा से बल्ब जलते या पंखे चलते हैं, उसी प्रकार अपना शक्तिभाग बीजरूप से दूसरे की मनोभूमि में जमाकर वहाँ उसे सींचा और बढ़ाया जाता है। इस क्रिया पद्धति को अग्नि दीक्षा कहते

हैं। अशक्त को सशक्त बनाना, निष्क्रिय को सक्रिय बनाना, निराश को आशान्वित करना प्राण दीक्षा का काम है। मंत्र से विचार उत्पन्न होता है, अग्नि से क्रिया उत्पन्न होती है। अंत:भूमि में हलचल, क्रिया, प्रगति, चेष्टा, क्रांति, बेचैनी, आकांक्षा का तीव्र गति से उदय होता है।

अग्नि दीक्षा लेकर साधक का आंतरिक प्रकाश स्वच्छ हो जाता है और उसे अपने छोटे से छोटे दोष दिखाई पड़ने लगते हैं। अँधेरे में या धुँधले प्रकाश में बड़ी वस्तुएँ भी ठीक प्रकार नहीं दीखतीं, पर तीव्र प्रकाश में मामूली चीजें भी भली प्रकार दीखती हैं और कई बार तो प्रकाश की तेजी के कारण वे वस्तुएँ भी अधिक महत्त्वपूर्ण दीखती हैं। आत्मा में ज्ञानाग्नि का प्रकाश होते ही साधक को अपनी छोटी-छोटी भूल, बुराइयाँ, कमियाँ भली प्रकार दीख पड़ती हैं। उसे मालूम पड़ता है, मैं असंख्य बुराइयों का भंडार हूँ। नीची श्रेणी के मनुष्यों से भी मेरी बुराइयाँ अधिक हैं। अब भी पाप मेरा पीछा नहीं छोड़ते। इस प्रकार वह अपने अंदर घृणास्पद तत्त्वों को बड़ी मात्रा में देखता है। जिन गलतियों को साधारण श्रेणी के लोग कतई गलती नहीं मानते, उनका नीर-क्षीर विवेक वह करता है। मनसा पापों तक से दुखी होता है।

मंत्र दीक्षा के लिए कोई भी विचारवान, दूरदर्शी, उच्च चरित्र, प्रतिभाशाली, सत्पुरुष उपयुक्त हो सकता है। वह अपनी तर्कशक्ति और बुद्धिमत्ता से शिष्य के विचारों का परिमार्जन कर सकता है। उसके कुविचारों को भ्रमों को सुलझाकर अच्छाई के मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक सलाह, शिक्षण एवं उपदेश दे सकता है, अपने प्रभाव से उसे प्रभावित भी कर सकता है। अग्नि दीक्षा के लिए ऐसा गुरु चाहिए जिसके भीतर अग्नि पर्याप्त मात्रा में हो, तप की पूँजी का जो धनी हो। दान वही कर सकता है जिसके पास धन हो। विद्या वही दे सकता है जिसके पास विद्या हो। जिसके पास जो वस्तु नहीं वह दूसरों को क्या देगा? जिसने स्वयं तप करके प्राण-शक्ति संचित की है, अग्नि

अपने भीतर प्रज्वलित कर रखी है, वही दूसरों को प्राण या अग्नि देकर उन्हें भुवः भूमिका की दीक्षा दे सकता है।

तीसरी भूमिका 'ब्रह्म दीक्षा'—तीसरी भूमिका '**स्वः**' है। इसे ब्रह्म दीक्षा कहते हैं। जब दूध अग्नि पर औटाकर नीचे उतार लिया जाता है और ठंढा हो जाता है, तब उसमें दही का जामन देकर उसे जमा दिया जाता है, फलस्वरूप वह सारा दूध दही बन जाता है। मंत्र द्वारा दृष्टिकोण परिमार्जन करके साधक अपने सांसारिक जीवन को प्रसन्नता और संपन्नता से ओत-प्रोत करता है, अग्नि द्वारा अपने कुसंस्कारों, पापों, मलों, कषायों, दुर्बलताओं को जलाता है, उनसे अपना पिंड छुड़ाकर बंधन मुक्त होता है एवं तप की ऊष्मा द्वारा अंतःकरण को पकाकर ब्राह्मीभूत करता है।

पहली ज्ञान-भूमि, दूसरी शक्ति-भूमि और तीसरी ब्रह्म-भूमि होती है। क्रमशःएक के बाद एक को पार कर साधक जब तीसरी कक्षा में पहुँचता है तो उसे सद्गुरु द्वारा ब्रह्म-दीक्षा लेने की आवश्यकता होती है। यह 'परा' वाणी द्वारा होती है। वैखरी वाणी द्वारा मुँह से शब्द उच्चारण करके ज्ञान दिया जाता है। मध्यमा और पश्यंति वाणी द्वारा शिष्य के प्राणमय और मनोमयकोश में अग्नि संस्कार किया जाता है। परा वाणी द्वारा आत्मा बोलती है और उसका संदेश दूसरी आत्मा सुनती है। जीभ की वाणी कान सुनते हैं, मन की वाणी नेत्र सुनते हैं, हृदय की वाणी हृदय सुनता है और आत्मा की वाणी आत्मा सुनती है। जीभ 'वैखरी' वाणी बोलती है, मन 'मध्यमा' बोलता है, हृदय की वाणी 'पश्यंति' कहलाती है और आत्म 'परा' वाणी बोलती है। ब्रह्म दीक्षा में जीभ, मन, हृदय किसी को नहीं बोलना पड़ता। आत्मा के अंतरंग क्षेत्र से जो अनहद ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे दूसरी आत्मा ग्रहण करती है। उसे ग्रहण करने के पश्चात वह भी ऐसी ही ब्राह्मीभूत हो जाती है जैसे थोड़ा सा दही पड़ने से औटाया हुआ दूध सबका सब दही हो जाता है।

गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर अपना विराट रूप दिखाया था, अर्थात उसे वह ज्ञान दिया था जिससे विश्व के अंतरंग में छिपी हुई अदृश्य ब्रह्म सत्ता का दर्शन कर सके। भगवान सबमें व्यापक है पर उसे कोई विरले ही देखते, समझते हैं। भगवान ने अर्जुन को वह दिव्य दृष्टि दी जिससे उसकी ईक्षण शक्ति इतनी सूक्ष्म और पारदर्शी हो गई कि वह उन दिव्य तत्त्वों का अनुभव करने लगा जिसे साधारण लोग नहीं कर पाते। इस दिव्य दृष्टि को ही पाकर योगी लोग आत्मा का, ब्रह्म का साक्षात्कार अपने भीतर और बाहर करते हैं तथा ब्राह्मी गुणों से, विचारों से, स्वभावों से, कार्यों से ओत-प्रोत हो जाते हैं। यशोदा ने, कौशल्या ने, काकभुशुंडि ने ऐसी ही दिव्य दृष्टि पाई थी और ब्रह्म का साक्षात्कार किया था, ईश्वर का दर्शन इसे ही कहते हैं। ब्रह्म दीक्षा पाने वाला शिष्य ईश्वर में अपनी समीपता और स्थिति वैसे ही अनुभव करता है जैसे कोयला अग्नि में पड़कर अपने को अग्निमय अनुभव करता है।

गायत्री महामंत्र के भावार्थ में ही है उत्कीलन का रहस्य

गायत्री स्वरूप गुरुदेव के निर्देशन में की गई गायत्री ब्रह्मविद्या की साधना कभी भी निष्फल नहीं होती, किंतु समर्थ गायत्रीसिद्ध महागुरु के विशेष निर्देशन में, विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए की गई गायत्री ब्रह्म विद्या की साधना के लिए विशेष सत्पात्रता की आवश्यकता अनिवार्य है। ''सत्पात्रता की अनिवार्य आवश्यकता'' इन भाव-शब्दों में ही गायत्री ब्रह्मविद्या के उत्कीलन या शाप विमोचन का रहस्य छिपा हुआ है।

गायत्री महामंत्र ब्रह्मविद्या-महाविद्या है। यह सर्वोच्च परात्पर मंत्र है। इसकी सिद्धि भी सर्वोच्च है। ''गायत्रीतित्रिपदाचतुष्पदेषु'' कहकर उपनिषदों में साधक को ज्ञान-साधना, भक्ति की उपासना तथा कर्माराधना सहित ऋतंभरा प्रज्ञा की स्थिरता के चौथे स्थायी पद की उपलब्धि के

लिए प्रेरित किया गया है। गायत्री महाविद्या के साधक में ज्ञान (वेद) के उत्पत्ति केंद्र (वेदमाता) से जुड़कर दैवी (दिव्य) व्यक्तित्ववान बनने के लिए दिव्य शक्ति की उत्पत्ति केंद्र (देवमाता) से जुड़ना होता है। तत्पश्चात साधक अपने दैवी व्यक्तित्व का लाभ विश्व-समाज को विश्व की उत्पत्ति केंद्र से (विश्वमाता से) जुड़कर देने से परिपूर्णता की ओर अग्रसर होता है। गायत्री की महत साधना से साधक सार्वकालिक, सार्वदेशिक, सार्वभौमिक, सार्वभौतिक, सार्वजन्य, सार्वत्रिक और एकमेव अपरिवर्तनीय, अविकारी, निराकार सर्वोपरि परात्पर 'परे' शाश्वत सत्ता से नित्य संबंध स्थापित करके ब्रह्म निर्वाण के चतुष्पद में स्थापित हो जाता है।

गायत्री महामंत्र के भावार्थ को साधकों को अपने जीवन में अवतरित करना चाहिए। उसे प्राणवान, प्राणस्वरूप, अपने दु:खों को नष्ट करने, दूर करने में तथा सत्सुख के निर्माण के लिए तत्पर होना चाहिए। साधक को स्वयं को श्रेष्ठ और तेजस्वी बनाना होता है। उसे अपने शारीरिक, मानसिक, वाचिक आदि सभी पाप-ताप, कषाय-कल्मषों को निराकृत करना होता है। इस प्रकार की सिद्धि उपासना, साधना और आराधना की त्रिवेणी में स्नान करने से ही संभव है। तभी साधक दैवी अनुग्रह प्राप्त करके देवस्वरूप बनता है एवं साधक आत्मज्ञान, सर्वोपरि ब्रह्मज्ञान उपलब्ध करता है। उसके हृदय में परमात्मा अवतरित होकर उसे सन्मार्ग पर चलाते हैं।

कल्याण मंदिर का प्रवेश द्वार

तीन दीक्षाओं से तीन वर्गों में प्रवेश मिलता है। दीक्षा का अर्थ यह है—विधिवत, व्यवस्थित कार्यक्रम और निश्चित श्रद्धा। यों कोई विद्यार्थी नियत कोर्स न पढ़कर, नियत कक्षा में न बैठकर, कभी कोई, कभी कोई पुस्तक पढ़ता रहे तो भी धीरे-धीरे उसका ज्ञान बढ़ता ही रहेगा

और क्रमशः उसके ज्ञान में उन्नति होती ही रहेगी। संभव है वह अव्यवस्थित क्रम से भी ग्रेजुएट बन जाए, पर यह मार्ग है कष्टसाध्य और लंबा। क्रमशः एक-एक कक्षा पार करते हुए एक-एक कोर्स पूरा करते हुए, निर्धारित क्रम से यदि पढ़ाई जारी रखी जाए तो अध्यापक को भी सुविधा रहती है और विद्यार्थी को भी। यदि विद्यार्थी आज कक्षा ५ की, कल कक्षा १० की, आज संगीत की, कल डॉक्टरी की पुस्तकें पढ़े तो उसे याद करने में और शिक्षक को पढ़ाने में असुविधा होगी। इसलिए ऋषियों ने आत्मोन्नति की तीन भूमिकाएँ निर्धारित कर दी हैं। द्विजत्व को तीन भागों में बाँट दिया है। क्रमशः एक-एक कक्षा में प्रवेश करना और नियम, प्रतिबंध, आदेश एवं अनुशासन को श्रद्धापूर्वक मानना इसी का नाम दीक्षा है।

तीन कक्षाओं को उत्तीर्ण करने के लिए तीन बार भरती होना पड़ता है। कोई जगह एक ही अध्यापक तीनों कक्षाओं को पढ़ाते हैं, कई जगह हर शिक्षा के लिए अलग अध्यापक होते हैं, कई बार तो स्कूल ही बदलने पड़ते हैं। प्राइमरी स्कूल उत्तीर्ण करके हाईस्कूल में भरती होना पड़ता है और हाईस्कूल पास करके कॉलेज में नाम लिखाना पड़ता है। तीनों विद्यालयों की पढ़ाई पूरी करने पर एम. ए. की पूर्णता प्राप्त होती है।

इन तीन कक्षाओं के अध्यापक की योग्यता भिन्न-भिन्न होती है। प्रथम कक्षा में सद्विचार और सद् आचार सिखाया जाता है। इसके लिए कथा, प्रवचन, सत्संग, भाषण, पुस्तक, प्रचार, शिक्षण, सलाह, तर्क आदि साधन काम में लाए जाते हैं। इनके द्वारा मनुष्य की विचार भूमि का सुधार होता है, कुविचारों के स्थान पर सद्विचार स्थापित होते हैं, जिनके कारण साधक अपने शूलों और क्लेशों से बचता हुआ सुख-शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत कर लेता है। इस प्रथम कक्षा के विद्यार्थी को गुरु के प्रति 'श्रद्धा' रखना आवश्यक है। श्रद्धा न होगी तो उन वचनों का, उपदेशों का न तो महत्त्व समझ में आएगा और न उन पर विश्वास होगा।

प्रत्यक्ष है कि उसी बात को कोई महापुरुष कहे तो लोग उसे महत्त्वपूर्ण समझते हैं और उसी बात को यदि तुच्छ मनुष्य कहे तो कोई कान नहीं देता। दोनों ने एक ही बात कही पर एक के कहने पर उपेक्षा की गई तथा दूसरे के कहने पर ध्यान दिया गया। इसमें कहने वाले के ऊपर सुनने वालों की श्रद्धा या अश्रद्धा का होना ही प्रधान कारण है। किसी व्यक्ति पर विशेष श्रद्धा हो तो उसकी साधारण बातें भी असाधारण प्रतीत होती हैं।

रोज सैकड़ों कथा, प्रवचन, व्याख्यान होते हैं। अखबारों में, पर्चों, पोस्टरों में तरह-तरह की बातें सुनाई जाती हैं। रेडियो से नित्य ही उपदेश सुनाए जाते हैं पर उन पर कोई कान नहीं देता, कारण यही है सुनाने वालों के प्रति व्यक्तिगत श्रद्धा नहीं होती, इसलिए वे महत्त्वपूर्ण बातें निरर्थक एवं उपेक्षणीय मालूम देती हैं। कोई उपदेश तभी प्रभावशाली हो सकता है, जब उसका देने वाला, सुनने वालों का श्रद्धास्पद हो। वह श्रद्धा जितनी ही तीव्र होगी उतना ही अधिक उपदेश का प्रभाव पड़ेगा। प्रथम कक्षा के मंत्र दीक्षित गायत्री का समुचित लाभ उठा सकें इस दृष्टि से साधक को, दीक्षित को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा रखेगा। उसे वह देवतुल्य या परमात्मा का प्रतीक मानेगा। इसमें कुछ विचित्रता भी नहीं है। श्रद्धा के कारण जब मिट्टी, पत्थर और धातु की बनी मूर्तियाँ हमारे लिए देव बन जाती हैं तो कोई कारण नहीं कि एक जीवित मनुष्य में देवत्व का आरोपण करके अपनी श्रद्धानुसार अपने लिए उसे देव न बना लिया जाए।

श्रद्धा के प्रकटीकरण की आवश्यकता

विचारों को मूर्तिमान रूप देने के लिए उनको प्रकट रूप से व्यवहार में लाना पड़ता है। जितने भी धार्मिक कर्मकांड, दान-पुण्य, व्रत, उपवास, हवन, पूजन, कथा, कीर्तन आदि हैं; वे सब इसी प्रयोजन के लिए हैं कि आंतरिक श्रद्धा व्यवहार में प्रकट होकर साधक के मन

में परिपुष्ट हो जाए। गुरु के प्रति मंत्र दीक्षा में 'श्रद्धा' की शर्त होती है। श्रद्धा न हो या शिथिल हो तो वह दीक्षा केवल चिह्न पूजा मात्र है। अश्रद्धालु की गुरु दीक्षा से कुछ विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। दीक्षा के समय स्थापित हुई श्रद्धा, कर्मकांड के द्वारा सजग रहे इसी प्रयोजन के लिए समय-समय पर गुरु पूजन किया जाता है। दीक्षा के समय वस्त्र, पात्र, पुष्प, भोजन, दक्षिणा द्वारा गुरु का पूजन करते हैं। गुरु पूर्णिमा (आषाढ़ सुदी १५) को यथाशक्ति उनके चरणों में श्रद्धांजलि के रूप में कुछ भेंट पूजा अर्पित करते हैं। यह प्रथा अपनी आंतरिक श्रद्धा को मूर्त रूप देने, बढ़ाने एवं परिपुष्ट करने के लिए है। केवल विचार मात्र से कोई भावना परिपक्व नहीं होती। क्रिया और विचार दोनों के सम्मिश्रण से एक संस्कार बनता है, जो मनोभूमि में स्थिर होकर आशाजनक परिणाम उपस्थित करता है।

प्राचीनकाल में यह नियम था कि गुरु के पास जाने पर शिष्य कुछ वस्तु भेंट के लिए ले जाता था, चाहे वह कितने ही स्वल्प मूल्य की क्यों न हो! समिधा की लकड़ी हाथ में लेकर शिष्य गुरु के सम्मुख जाते थे इसे 'समित्पाणि' कहते थे। वे समिधाएँ उनकी श्रद्धा की प्रतीक होती हैं, चाहे उनका मूल्य कितना ही क्यों न हो। शुकदेव जी जब राजा जनक के पास ब्रह्म विद्या की शिक्षा लेने गए तो राजा जनक मौन रहे, उन्होंने एक शब्द भी उपदेश न दिया। शुकदेव जी वापस लौट आए। पीछे उन्हें ध्यान आया कि भले ही मैं संन्यासी हूँ, राजा जनक गृहस्थ हैं, पर जब कि मैं उनसे कुछ सीखने गया तो अपनी श्रद्धा का प्रतीक साथ लेकर जाना चाहिए था। दूसरी बार शुकदेव जी हाथ में समिधाएँ लेकर नम्र भाव से उपस्थित हुए तो उन्होंने विस्तारपूर्वक ब्रह्म विद्या समझाई।

आरंभिक कक्षा का रसास्वादन करने पर साधक की मनोभूमि काफी सुदृढ़ और परिपक्व हो जाती है। वह भौतिकवाद की तुच्छता और आत्मिकवाद की महानता व्यावहारिक दृष्टि से, वैज्ञानिक दृष्टि से,

दार्शनिक दृष्टि से समझ लेता है, तब उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि मेरा लाभ आत्मकल्याण के मार्ग पर चलने में ही है। श्रद्धा परिपक्व होकर जब निष्ठा के रूप में परिणत हो जाती है तो वह भीतर से काफी मजबूत हो जाता है। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसमें इतनी दृढ़ता होती है कि वह कष्ट सह सके, तप कर सके, त्याग की परीक्षा का अवसर आए तो विचलित न हो। जब ऐसी पक्की मनोभूमि होती है तो गुरु द्वारा उसे अग्नि दीक्षा देकर कुछ और गरम किया जाता है जिससे उसके मल जल जाएँ, कीर्ति का प्रकाश हो तथा तप की अग्नि में तपकर वह पूर्णता को प्राप्त हो।

तपस्वी की गुरु दक्षिणा

गीली लकड़ी को लेकर धूप में सुखाया जाता है। उसे थोड़ी सी गरमी पहुँचाई जाती है। धीरे-धीरे उसकी नमी सुखाई जाती है। पर जब वह भली प्रकार सूख जाती है तो उसे अग्नि में देकर मामूली लकड़ी से महाशक्तिशाली प्रचंड अग्नि के रूप में परिणत कर दिया जाता है। गीली लकड़ी को चूल्हे में दिया जाए तो उसका परिणाम अच्छा न होगा। प्रथम कक्षा के साधक पर केवल गुरु श्रद्धा की जिम्मेदारी है और दृष्टिकोण सुधारकर अपना प्रत्यक्ष जीवन सुधारना होता है। यह सब प्रारंभिक छात्र के उपयुक्त है। यदि आरंभ में ही तीव्र साधना में नए साधक को फँसा दिया जाए तो वह बुझ जाएगा। तप की कठिनाई देखकर वह डर जाएगा और प्रयत्न छोड़ बैठेगा। दूसरी कक्षा का छात्र चूँकि धूप में सूख चुका है, इसलिए उसे कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। वह हँसते-हँसते साधना के श्रम का बोझ उठा लेता है।

अग्निदीक्षा के साधक को तपाने के लिए कई प्रकार के संयम, व्रत, नियम, त्याग करने-कराने होते हैं। प्राचीनकाल में उद्दालक, धौम्य, आरुणि, उपमन्यु, कच, श्लीमुख, जरत्कारु, हरिश्चंद्र, दशरथ, नचिकेता,

शुन:शेप, विरोचन, जाबालि, सुमनस, अंबरीष, दिलीप आदि अनेक शिष्यों ने अपने गुरुओं के आदेशानुसार अनेक कष्ट सहे और उनके बताए हुए कार्यों को पूरा किया। स्थूल दृष्टि से इन महापुरुषों के साथ गुरुओं का जो व्यवहार था वह 'हृदयहीनता' का कहा जा सकता है। पर सच्ची बात यह है कि उन्होंने स्वयं निंदा और बुराई को अपने ऊपर ओढ़कर शिष्यों को अनंतकाल के लिए प्रकाशवान एवं अमर कर दिया। यदि कठिनाइयों में होकर राजा हरिश्चंद्र को न गुजरना पड़ा होता तो वे भी असंख्य राजा-रईसों की भाँति विस्मृति के गर्त में चले गए होते।

अग्नि दीक्षा पाकर शिष्य गुरु से पूछता है—"आदेश दीजिए, कि मैं आपके लिए क्या गुरु दक्षिणा उपस्थित करूँ?" गुरु देखता है कि शिष्य की मनोभूमि, सामर्थ्य, योग्यता, श्रद्धा, त्याग-वृत्ति कितनी है उसी आधार पर वह उससे गुरु दक्षिणा माँगता है। यह याचना अपने लिए रुपया-पैसा, धन-दौलत देने के रूप में कदापि नहीं हो सकती। गुरु सदा परम त्यागी, अपरिग्रही, कष्ट सहिष्णु एवं स्वल्प संतोषी होते हैं। उन्हें अपने लिए शिष्य से या किसी से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं होती। जो गुरु अपने लिए कुछ माँगता है, वह गुरु नहीं भिक्षुक है। ऐसे लोग गुरु जैसे परम पवित्र पद के अधिकारी कदापि नहीं हो सकते। अग्नि दीक्षा देकर गुरु जो कुछ माँगता है, वह शिष्य को अधिक उज्ज्वल, अधिक सुदृढ़, अधिक उदार, अधिक तपस्वी बनाने के लिए होता है। यह याचना उसके यश का विस्तार करने के लिए, पुण्य को बढ़ाने के लिए एवं त्याग का आत्म-संतोष देने के लिए होती है।

'गुरु दक्षिणा माँगिए' शब्दों में शिष्य कहता है—"मैं सुदृढ़ हूँ, मेरी आत्मिक स्थिति की परीक्षा लीजिए।" स्कूल-कॉलेजों में परीक्षा ली जाती है। उत्तीर्ण छात्र की योग्यता एवं प्रतिष्ठा को, वह उत्तीर्णता का प्रमाण-पत्र अनेक गुना बढ़ा देता है। परीक्षा न दी जाए तो योग्यता का

क्या पता चले ? संसार में किसी व्यक्ति की महानता का पुण्य प्रसार करने के लिए, उसके गौरव को सर्वसाधारण पर प्रकट करने के लिए, साधक को अपनी महानता पर आत्म-विश्वास कराने के लिए, गुरु अपने शिष्य से गुरु दक्षिणा माँगता है। शिष्य उसे देकर धन्य हो जाता है।

ब्रह्म दीक्षा की दक्षिणा 'आत्मदान'

क्रमशः दीक्षा का महत्त्व बढ़ता है, साथ ही उसका मूल्य भी बढ़ता है। जो वस्तु जितनी बढ़िया होती है उसका मूल्य भी उसी अनुपात से होता है। लोहा सस्ता बिकता है। कम पैसे देकर मामूली दुकानदार से लोहे की वस्तु खरीदी जा सकती है, पर यदि सोना या जवाहरात खरीदने हों तो ऊँची दुकान जाना पड़ेगा और बहुत दाम खरच करना पड़ेगा। ब्रह्म दीक्षा में न विचार शक्ति से काम चलता है और न प्राण शक्ति से। एक आत्मा दूसरी आत्मा से 'परा' वाणी द्वारा वार्त्तालाप करती है। अन्य वाणियों की बात आत्मा नहीं पाती। जैसे चींटी की समझ में मनुष्य की वाणी नहीं आती और मनुष्य चींटी की वाणी को नहीं सुन पाता, उसी प्रकार आत्मा तक व्याख्यान आदि नहीं पहुँचते। उपनिषद् का वचन है— "बहुत पढ़ने से, बहुत सुनने से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। बलहीनों को भी वह प्राप्त नहीं होती।" कारण स्पष्ट है कि ये बातें आत्मा तक पहुँचती ही नहीं तो वह सुनी कैसे जाएँगी ?

कीचड़ में फँसे हुए हाथी को दूसरा हाथी ही निकालता है। पानी में बहते जाने वाले को कोई तैरने वाला ही पार निकालता है। राजा की सहायता करना किसी राजा को ही संभव है। एक आत्मा में ब्रह्म ज्ञान जाग्रत करना, उसे ब्रह्मीभूत, ब्रह्मपरायण बनाना केवल उसी के लिए संभव है जो स्वयं ब्रह्म-तत्त्व से ओत-प्रोत हो रहा हो। जिसमें स्वयं अग्नि होगी वही दूसरों को प्रकाश और गरमी दे सकेगा अन्यथा अग्नि का चित्र कितना ही आकर्षक क्यों न हो उससे कुछ पकाने का प्रयोजन सिद्ध न होगा।

कई व्यक्ति साधु-महात्माओं का वेश बना लेते हैं पर उनमें ब्रह्मतेज की अग्नि नहीं होती। जिसमें साधुता हो वही साधु है, जिसकी आत्मा महान हो वही महात्मा है, जिसको ब्रह्म का ज्ञान हो वही ब्राह्मण है, जिसने रागों से मन को बचा लिया है वही वैरागी है, जो स्वाध्याय में, मनन में लीन रहता हो वही मुनि है, जिसने अहंकार, मोह, ममता को त्याग दिया है वही संन्यासी है, जो तप में प्रवृत हो वही तपसी है। कौन क्या है? इसका निर्णय गुण, कर्म से होता है, वेश से नहीं। इसलिए ब्रह्मपरायण होने के लिए कोई वेश बनाने की आवश्यकता नहीं। दूसरों को बिना प्रदर्शन किए, सीधे-साधे तरीके से रहकर जब आत्म-कल्याण किया जा सकता है तो व्यर्थ में लोक दिखावा क्यों किया जाए? सादा वस्त्र, सादा वेश और सादा जीवन में जब महानतम आत्मिक-साधना हो सकती है तो असाधारण वेश तथा अस्थिर कार्यक्रम क्यों अपनाया जाए? पुराने समय अब नहीं रहे, पुरानी परिस्थितियाँ भी अब नहीं हैं। आज की स्थिति में सादा जीवन में आत्मिक विकास की संभावना अधिक है।

ब्राह्मी दृष्टि का, दिव्य दृष्टि का प्राप्त होना ही ब्रह्म समाधि है। सर्वत्र सब में ईश्वर का दिखाई देना, अपने अंदर तेज पुंज की उज्ज्वल झाँकी होना, अपनी इच्छा और आकांक्षाओं का दिव्य, दैवी हो जाना, यही ब्राह्मी स्थिति है। पूर्व युगों में आकाश तत्त्व की प्रधानता थी। दीर्घकाल तक प्राणों को रोककर ब्रह्मांड में एकत्रित कर लेना और शरीर को निश्चेष्ट कर देना 'समाधि' कहलाता था। ध्यानकाल की पूर्ण तन्मयता होना और शरीर की सुधि-बुधि भूल जाना उन युगों में 'समाधि' कहलाता था। उन युगों में वायु और अग्नितत्त्वों का प्रधानता थी। आज के युग में जल और पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता होने से ब्राह्मी स्थिति को ही समाधि कहते हैं। इस युग के सर्वश्रेष्ठ शास्त्र 'भगवद्गीता' के दूसरे अध्याय में इसी ब्रह्म समाधि की विस्तारपूर्वक शिक्षा दी गई है। उस स्थिति को प्राप्त करने वाला ब्रह्म समाधिस्थ ही कहा जाएगा।

अब भी कई व्यक्ति जमीन में गड्ढे खोदकर उनमें बंद हो जाने का प्रदर्शन करके अपने को समाधिस्थ सिद्ध करते हैं। यह बालक्रीड़ा अत्यंत उपहासास्पद है। वह मन की घबराहट पर काबू पाने की मानसिक साधना का चमत्कार मात्र है। अन्यथा लंबे-चौड़े गड्ढे में कोई भी आदमी काफी लंबी अवधि तक सुखपूर्वक रह सकता है। रातभर लोग रूई की रजाई में मुँह बंद करके सोते रहते हैं। रजाई के भीतर की जरा सी हवा से रातभर का गुजारा हो जाता है तो लंबे-चौड़े गड्ढे की हवा आसानी से दस-पंद्रह दिन काम दे सकती है। फिर भूमि में स्वयं भी हवा रहती है। गुफाओं में रहने का अभ्यासी मनुष्य आसानी से जमीन में गड़ने की समाधि का प्रदर्शन कर सकता है। ऐसे क्रीड़ा कौतुकों की ओर ध्यान देने की सच्चे ब्रह्मज्ञानी को कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

'परा' वाणी द्वारा अंतरंग प्रेरणा

आत्मा में ब्रह्म तत्त्व का प्रवेश करने में दूसरी आत्मा द्वारा आया हुआ ब्रह्म संस्कार बड़ा काम करता है। साँप जब किसी को काटता है तो तिल भर जगह में दाँत गढ़ाता है और विष भी कुछ रत्ती ही डालता है। पर वह तिलभर जगह में डाला हुआ रत्तीभर विष धीरे-धीरे संपूर्ण शरीर में फैल जाता है, सारी देह विषैली हो जाती है और अंत में परिणाम 'मृत्यु' होता है। ब्रह्म दीक्षा भी आध्यात्मिक 'सर्प दंशन' है। एक का विष दूसरे को चढ़ जाता है। अग्नि की एक चिनगारी सारे ढेर को अग्नि रूप कर देती है। भले प्रकार स्थित किया हुआ दीक्षा संस्कार तेजी से फैलता है, थोड़े ही समय में पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मज्ञान की पुस्तक पढ़ते रहने और आध्यात्मिक प्रवचन सुनते रहने से मनोभूमि तो तैयार होती है, पर बीज बोए बिना अंकुर नहीं उगता और अंकुर को सींचे बिना शीतल छाया और मधुर फल देने वाला वृक्ष नहीं होता। स्वाध्याय और सत्संग के अतिरिक्त आत्म-

कल्याण के लिए साधना की भी आवश्यकता होती है। साधना की जड़ में सजीव प्राण और सजीव प्रेरणा हो तो वह अधिक सुगमता और सुविधापूर्वक विकसित होती है।

ब्राह्मी स्थिति का साधक, अपने भीतर और बाहर ब्रह्म का पुण्य प्रकाश प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है। उसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह ब्रह्म की गोदी में कलोल कर रहा है। ब्रह्म के अमृत सिंधु में आनंदमग्न हो रहा है। इस दशा में पहुँचकर वह जीवन मुक्त हो जाता है। जो प्रारब्ध बन चुके हैं उन कर्मों का लेखा-जोखा पूरा करने के लिए वह जीवित रहता है। जब वह हिसाब बराबर हो जाता है, तो पूर्ण शांति एवं पूर्ण ब्राह्मी स्थिति में जीवनलीला समाप्त हो जाती है, फिर उसे भव बंधन में लौटना नहीं होता। प्रारब्धों को पूरा करने के लिए वह शरीर धारण किए रहता है। सामान्य श्रेणी के मनुष्यों की भाँति सीधा-साधा जीवन बिताता है, तो भी उसकी आत्मिक स्थिति बहुत ऊँची होती है। युग प्रभाव से आज चमत्कारों का युग नहीं रहा तो भी आत्मा की उन्नति में कभी कोई युग बाधा नहीं डाल सकता। पूर्वकाल में जैसी महान आत्माएँ होती थीं, आज भी वह सब क्रम यथावत जारी है। उस समय वे योगी आसानी से पहचान लिए जाते थे, आज उनका पहचानना कठिन है। इस कठिनाई के होते हुए भी आत्म-विकास का मार्ग सदा की भाँति अब भी खुला हुआ है।

ब्रह्म दीक्षा के अधिकारी गुरु-शिष्य ही इस महान संबंध को स्थापित कर सकते हैं। शिष्य, गुरु को आत्मसमर्पण करता है। गुरु उनके कार्यों का उत्तरदायित्व एवं परिणाम अपने ऊपर लेता है। ईश्वर को आत्मसमर्पण करने की प्रथम भूमिका गुरु को आत्मसमर्पण करना है। शिष्य अपना सब कुछ गुरु को समर्पण करता है। गुरु उस सबको अमानत के तौर पर शिष्य को लौटा देता है और आदेश कर देता है कि इन सब वस्तुओं को गुरु की समझकर उपयोग करो। इस समर्पण से

प्रत्यक्षत: कोई विशेष हेर-फेर नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी गुरु अपरिग्रही होने के कारण उस सब 'समर्पण' का करेगा भी क्या? दूसरे व्यवस्था एवं व्यावहारिकता की दृष्टि से भी उसका सौंपा हुआ सब कुछ उसी के संरक्षण में ठीक प्रकार रह सकता है, इसलिए बाह्यत: इस समर्पण की कुछ विशेष बात प्रतीत नहीं होती पर आत्मिक दृष्टि से इस 'आत्म-दान' का मूल्य इतना भारी है कि उसकी तुलना और किसी त्याग या पुण्य से नहीं हो सकती।

जब दो-चार रुपया दान करने पर मनुष्य को इतना आत्म-संतोष और पुण्य प्राप्त होता है तब शरीर भी दान कर देने से पुण्य और आत्म-संतोष की अंतिम मर्यादा समाप्त हो जाती है। आत्म-दान से बड़ा और दान इस संसार में किसी प्राणी से संभव नहीं हो सकता। इसलिए इसकी तुलना में इस विश्व-ब्रह्मांड में और कोई पुण्यफल भी नहीं है। नित्य सवा मन सोने का दान करने वाला कर्ण 'दानवीर' के नाम से प्रसिद्ध था, पर उसके पास भी दान के बाद कुछ न कुछ अपना रह जाता था। जिस दानी ने अपना कुछ छोड़ा ही नहीं उसकी तुलना किसी दानी से नहीं हो सकती।

'आत्म-दान' मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक महान कार्य है। अपनी सब वस्तुएँ जब वह गुरु की, अंत में परमात्मा की समझकर उनके आदेशानुसार नौकर की भाँति प्रयोग करता है, तो उनका स्वार्थ, मोह, अहंकार, मान, मद, मत्सर, क्रोध आदि सभी समाप्त हो जाते हैं। जब अपना कुछ रहा ही नहीं तो 'मेरा' क्या? अहंकार किस बात का? जब उपार्जित की हुई वस्तुओं का स्वामी गुरु या परमात्मा ही है तो स्वार्थ कैसा? जब हम नौकर मात्र रह गए तो हानि-लाभ में शोक-संताप कैसा? इस प्रकार 'आत्म-दान' में वस्तुत: 'अहंकार' का दान होता है। वस्तुओं के प्रति 'मेरी' भावना न रहकर 'गुरु की' या 'परमात्मा की' भावना हो जाती है। यह 'भावना परिवर्तन' आत्म परिवर्तन—एक

असाधारण एवं रहस्यमय प्रक्रिया है। इसके द्वारा साधक सहज ही बंधनों से खुल जाता है। अहंकार के कारण जो अनेक संस्कार उसके ऊपर लदते थे, वे एक भी उसके ऊपर नहीं लदते। जैसे छोटा बालक अपने ऊपर कोई बोझ नहीं लेता, उसका सब कुछ बोझ माता-पिता पर रहता है, इसी प्रकार आत्म-दानी का बोझ भी किसी दूसरी उच्च सत्ता पर चला जाता है।

ब्रह्म दीक्षा का शिष्य गुरु को 'आत्म-दान' करता है। प्रथम कक्षा वाले अर्थात 'मंत्र दीक्षित' को 'गुरु पूजा' करनी पड़ती है। दूसरी कक्षा के शिक्षार्थी अर्थात 'अग्नि दीक्षित' को 'गुरु दीक्षा' देना पड़ती है। तीसरी कक्षा वाले अर्थात 'ब्रह्म दीक्षित' को 'आत्म-समर्पण' करना पड़ता है। राम को राज्य का अधिकारी मानकर उनकी खड़ाऊँ सिंहासन पर रखकर जैसे भरत राज-काज चलाते रहे वैसे ही आत्म-दानी अपनी वस्तुओं का समर्पण करके उनके व्यवस्थापक के रूप में स्वयं काम करता रहता है।

वर्तमानकाल की कठिनाइयाँ

आज व्यापक रूप से अनैतिकता फैली हुई है। स्वार्थी और धूर्तों का बाहुल्य है। सच्चे और सत्पात्रों का भारी अभाव हो रहा है। आज न तो तीव्र उत्कंठा वाले शिष्य हैं और न सच्चा पथ प्रदर्शन की योग्यता रखने वाले चरित्रवान, तपस्वी एवं अनुभवी गुरु ही रहे हैं। ऐसी दशा में गुरु-शिष्य संबंध की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता का पूरा होना कठिन हो जाता है। शिष्य चाहते हैं कि उन्हें कुछ न देना पड़े, कोई ऐसा गुरु मिले जो उनकी नम्रता मात्र से प्रसन्न होकर सब कुछ उनके लिए करके रख दे। गुरुओं की मनोवृत्ति यह है कि शिष्यों को उल्लू बनाकर उनसे आर्थिक लाभ उठाया जाए, उनकी श्रद्धा को दुहा जाए। ऐसा जोड़ा— 'लोभी गुरु लालची चेला, दुहुँ नरक में ठेलम ठेला' का उदाहरण बनता है। ऐसे ही लोगों की अधिकता के कारण यह महान संबंध शिथिल हो

गया है। अब किसी को गुरु बनाना एक आडंबर में फँसना और किसी को शिष्य बनाना एक झंझट मोल लेना समझा जाता है। जहाँ सचाई है वहाँ दोनों ही पक्ष संबंध जोड़ते हुए कतराते हैं। फिर भी आज की विषम स्थिति कितनी ही बुरी और कितनी ही निराशाजनक क्यों न हो पर भारतीय धर्म की एक मूलभूत आधारशिला का महत्त्व कम नहीं हो सकता।

गायत्री द्वारा आत्म-विकास की तीनों कक्षाएँ पार की जाती हैं। सर्वसाधारण की जानकारी के लिए 'गायत्री महाविज्ञान' के तीन खंडों में यथासंभव उपयोगी जानकारी देने का हमने प्रयत्न किया है। उन पुस्तकों में वह शिक्षा मौजूद है जिसे दृष्टिकोण का परिमार्जन एवं मंत्र दीक्षा कहते हैं। यज्ञोपवीत का रहस्य, गायत्री ही कल्पवृक्ष है, गायत्री गीता, गायत्री स्मृति, गायत्री रामायण, गायत्री उपनिषद्, गायत्री की दस भुजा आदि प्रकरणों में यह बताया गया है कि हम अपने विचारों, भावनाओं और इच्छाओं में संशोधन करके किस प्रकार सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इन्हीं तीनों खंडों में अग्नि दीक्षा की द्वितीय भूमिका की शिक्षा भी विस्तारपूर्वक दी गई है। ब्रह्म संध्या, अनुष्ठान, ध्यान, पापनाशक तपश्चर्याएँ, उद्यापन, विशेष साधनाएँ, उपासना, प्राण विद्या, मनोमयकोश की साधना, तंत्र, पुरश्चरण आदि प्रकरणों में शक्ति उत्पन्न करने की शिक्षा दी गई है। ब्रह्म दीक्षा की शिक्षा गायत्री पंजर, गायत्री हृदय, कुंडलिनी जागरण, ग्रंथि भेद, विज्ञानमयकोश की वेधना एवं आनंदमयकोश की साधना के अंतर्गत भली प्रकार की तलाश करने से कई बार दुष्प्राप्य वस्तुएँ भी मिल जाती हैं।

यदि उपयुक्त व्यक्ति न मिले तो किसी स्वर्गीय, पूर्वकालीन या दूरस्थ व्यक्ति की प्रतिमा को गुरु मानकर यात्रा आरंभ की जा सकती है। एक आवश्यक परंपरा का लोप न हो जाए इसलिए किसी साधारण श्रेणी के सत्पात्र से भी काम चलाया जा सकता है। गुरु का निर्लोभ, निरहंकारी एवं शुद्ध चरित्र होना आवश्यक है। ये योग्यताएँ जिस व्यक्ति में हों, वह

काम चलाऊ गुरु के रूप में काम दे सकता है। यदि उसमें शक्ति दान एवं पथप्रदर्शक की योग्यता न होगी तो भी वह अपनी श्रद्धा को बढ़ाने में साथी की तरह सहयोग अवश्य देगा। 'निगुरा' रहने की अपेक्षा मध्यम श्रेणी के पथ-प्रदर्शक से काम चल सकता है। गेहूँ न मिले तो ज्वार, बाजरा खाकर भी काम चलता है। यज्ञोपवीत धारण करने एवं गुरु दीक्षा लेने की प्रत्येक द्विज की अनिवार्य आवश्यकता है। चिह्न पूजा के रूप में यह प्रथा चलती रहे तो समयानुसार उसमें सुधार भी हो सकता है, पर यदि उस शृंखला को ही तोड़ दिया तो उसकी नवीन रचना कठिन होगी।

गायत्री द्वारा आत्मोन्नति होती है यह निश्चित है। मनुष्य के अंत: क्षेत्र के संशोधन, परिमार्जन, संतुलन एवं विकास के लिए गायत्री से बढ़कर और कोई ऐसा साधन भारतीय धर्म-शास्त्रों में नहीं है, जो अतीतकाल से असंख्य व्यक्तियों के अनुभवों में सदा खरा उतरता आया हो। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अंत:करण चतुष्टय गायत्री द्वारा शुद्ध कर लेने वाले व्यक्ति के लिए सांसारिक जीवन में सब ओर से सब प्रकार की सफलताओं का द्वार खुल जाता है। उत्तम स्वभाव, अच्छी आदतें, स्वस्थ मस्तिष्क, दूर दृष्टि, प्रफुल्ल मन, उच्च चरित्र, कर्त्तव्यनिष्ठा की सत् प्रवृत्ति को प्राप्त करने के पश्चात गायत्री साधक के लिए संसार में कोई दु:ख कष्टकर नहीं रह जाता, उसके लिए सामान्य परिस्थितियों में भी सुख ही सुख उपस्थित रहता है।

परंतु गायत्री का यह लाभ केवल २४ अक्षर के मंत्र मात्र से उपलब्ध नहीं हो सकता। एक हाथ से ताली नहीं बजती, एक पहिये की गाड़ी नहीं चलती, एक पंख का पक्षी नहीं उड़ता। इसी प्रकार अकेली गायत्री-साधना अपूर्ण है, उसका दूसरा भाग गुरु का पथ-प्रदर्शन है। गायत्री गुरु मंत्र है। इस महाशक्ति की कीलित कुंजी अनुभवी एवं सुयोग्य गुरु के पथ-प्रदर्शन में सन्निहित है। जब साधक को उभयपक्षीय साधन, गायत्री माता और पिता गुरु की छत्रछाया प्राप्त हो जाती है, तो आशाजनक सफलता प्राप्त होने में देर नहीं लगती। ❐

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)